

साल 2018 से सीबीएसई की बोर्ड परीक्षाएं फिर से शुरू होने जा रही हैं और इसके साथ ही बच्चों को घोर तनाव देने व आत्महत्या जैसे कदम उठाने पर मजबूर करने वाला परीक्षाओं का भूत फिर से लौट आएगा। यह फैसला विचलित कर देने वाला है। यह न सिर्फ प्रतिगामी कदम है बल्कि छात्र-छात्राओं को संत्रास देने वाला है। हम समझने की कोशिश करते हैं कि आखिर इसमें दिक्कत क्या है। बोर्ड परीक्षा आकलन का ऐसा तरीका है-

- जिससे यह पता नहीं चलता कि बच्चे को क्या आता है और क्या नहीं आता।
- जो शिक्षक को इस बारे में किसी तरह के कोई संकेत या अंतर्दृष्टि नहीं देती कि बच्चे को किस स्तर पर या किस जगह मदद की जरूरत है।

आधुनिक शिक्षाशास्त्र में आकलन सीखने-सिखाने की प्रक्रिया के हिस्से के तौर पर शामिल होता है न कि उनसे अलग चलने वाली कोई ऐसी प्रक्रिया जिसका उससे कोई वास्ता ही न हो। क्योंकि आकलन की जरूरत सीखने-सिखाने में आ रही दिक्कतों को समझने के लिए होती है ताकि सीखने वाले की दिक्कतों को समझ कर सीखने में उसकी मदद की जा सके। लेकिन बोर्ड परीक्षा इसमें किसी तरह की कोई मदद नहीं करती। अब सवाल यह रह जाता है कि फिर यह बोर्ड परीक्षा करती क्या है?

बोर्ड परीक्षा बच्चों में असफलता का बोध जगाती है। वह फेल हो जाने वाले बच्चों को यह अहसास करवाती है कि वे इस शिक्षा व्यवस्था में असफल हो चुके हैं। ऐसा करके वह शिक्षा हासिल करने के बाद उनके भीतर पैदा हो जाने वाली किसी न किसी तरह का रोजगार या काम पाने की महत्वाकांक्षाओं और उम्मीदों पर लगाम लगाती है। वह उन्हें यह बोध करवाती है कि वे इस लायक नहीं हैं कि इस व्यवस्था से किसी तरह के रोजगार या काम की उम्मीद करें। इस नजर से देखें तो दरअसल बोर्ड परीक्षा व्यवस्था की मददगार होती है। वह सफलतापूर्वक शिक्षा हासिल कर निकलने वाले लोगों व रोजगार के पैदा होने वाले अवसरों के बीच एक संतुलन स्थापित करने का काम करती रहती है। जाने-माने शिक्षाविद प्रोफेसर कृष्ण कुमार परीक्षा के बारे में कहते हैं, “यह प्रणाली इस धुरी पर आधारित है कि हर छात्र सफल नहीं हो सकता। क्योंकि शिक्षा का काम है कि वह समाज में इतने ज्यादा लोगों को सफल न होने दे कि फिर उनके लिए रोजगार या उनके कौशल या बुद्धि के लायक कोई काम उपलब्ध कराने में समस्या हो। अगर समाज में व्यवस्था नहीं है तो समाज एक सीमा से ज्यादा निराशा नहीं वितरित करना चाहता। निराशा बाद में हो इससे बेहतर है कि उनको पहले ही रोक दिया जाए। समाज व्यवस्था इस तरह से काम करती रही है या काम करती है।” और इसी वजह से सत्ता या व्यवस्था को बोर्ड परीक्षा बहुत पसंद आती है। इसीलिए वह व्यवस्था कक्षा 5 व 8 से ही बोर्ड परीक्षा करवाने की हिमायती रहती है ताकि इस निचले स्तर से ही छंटनी शुरू हो जाए और सत्ता या व्यवस्था पर कम से कम लोगों को रोजगार या काम उपलब्ध करवाने का दबाव बने। क्योंकि आकलन अगर व्यक्तिगत विविधता को अपने में समाहित करने लगेगा और इतना रचनात्मक हो जाएगा कि हर व्यक्ति को किसी न किसी खासियत, कौशल व रुचि के आधार पर सफल घोषित करने लगेगा तो अंततः यह सभी सफल लोग अपने लायक कोई न कोई काम हासिल करने की उम्मीद पालने लगेगे ऐसे में भारत जैसे देश में जहां रोजगार के अवसर बहुत सीमित क्षेत्रों में हैं यह जरूरी है कि लोगों को असफल करार दिया जाए और इसे इतने वस्तुनिष्ठ ढंग से किया जाए कि किसी पर उंगली तक न उठे। इसीलिए बोर्ड परीक्षा खुद अपनी वैधता हासिल करने के लिए वस्तुनिष्ठता की उंगली थामती है और इसी के चलते पूरी परीक्षा व्यवस्था इसी वस्तुनिष्ठ ढंग से संचालित की जाती है। परीक्षा के लिए बाकायदा प्रश्न पत्र इस तरह बनाए जाते हैं कि किसने बनाए हैं और किन छात्र-छात्राओं का आकलन करने के लिए बनाए गए हैं इस पर विचार करने की गुंजाइश ही न बचे। उन्हें दूर बैठा कोई अध्यापक बनाता है और किन्हीं खास बच्चों को ध्यान में रखने की बजाए उन्हें पाठ्यक्रम में शामिल विषयवस्तु के आधार पर सामान्यीकृत ढंग से बनाया जाता है। यह एक तरह से सभी को एक ही बांट से तौल देने जैसा मसला है। या सभी के लिए एक ही नाप का पैजामा सिल देने जैसा है।

बोर्ड परीक्षा की दूसरी दिक्कत इसी वस्तुनिष्ठता के चलते पैदा होती है। इस वजह से वहां जवाबों में विविधता की गुंजाइश लगभग नगन्य रह जाती है। ऐसे सवाल बनाए जाते हैं जिनके उत्तर एक हों। जिन्हें टैक्स्ट के आधार पर साबित किया जा सके कि वे सही हैं या गलत। जिन्हें जांचने में रतीभर भी यह विचार ना करना पड़े कि उनका कोई दूसरा जवाब भी हो सकता है। और उनका ऐसा होना पाठ्यपुस्तक निर्माण से कक्षा शिक्षण तक की हमारी पूरी शिक्षा व्यवस्था को पथ भ्रष्ट कर देता है। अब वे इसी से संचालित होने लगती हैं। इसी के चलते हमारी शिक्षा में पढ़ाए जाने के लायक माने जाले वाले विषयों का दायरा सीमित होने लगता है। उनमें कला, संगीत, कविता, मूल्यों जैसी उन चीजों के लिए गुंजाइश बनाना संभव नहीं रह जाता, जिनमें व्यक्तिगत विविधता, विचारों की विविधता, व्याख्याओं की विविधता संभव होती है। शिक्षण के लिए बनने वाली किताबों में वस्तुनिष्ठ जानकारी भरी जाने लगती है, उनमें ऐसे सवाल डाले जाने लगते हैं, जिनका जवाब उन्हीं के पाठों में मौजूद हो। इसके परिणामस्वरूप कक्षा शिक्षण रटन्त पद्धति पर चलने लगता है। बच्चों से उन सवालों के जवाब रट लिए जाने की उम्मीद की जाने लगती है। बच्चे सीखने की स्वाभाविक इच्छा के इतर परीक्षा में असफल हो जाने के भय की अभिप्रेरणा से किताबों के सवालों के जवाब रटने लगते हैं ताकि परीक्षा में उन्हें उगला जा सके। इसका घातक परिणाम यह होता है कि हमारी कक्षाओं में विचार करने, कल्पना करने, अपने तर्क देने, विश्लेषण के आधार पर किसी नतीजे पर पहुंचने और अपने आनंद के लिए पढ़ने की गुंजाइश लगभग खत्म हो जाती है और सीखने-सीखाने की सारी प्रक्रिया में असफलता का भय कुंडली मारकर बैठ जाता है। वह उसी से संचालित होने लगती है। पाठ्यपुस्तक निर्माता, अध्यापक, बच्चे, अभिभावक सभी परीक्षा के इस दुश्चक्र में फंस जाते हैं और जब भी कोई शिक्षक थोड़ा रचनात्मक होकर शिक्षण करवाने की कोशिश करने लगता है या कोई छात्र तथाकथित (सीमित) पाठ्यक्रम से अलग कुछ सोचने लगता है या करने लगता है तो उसे समय की बर्बादी कहा जाने लगता है। इसी के चलते कला, संगीत, हस्तकला जैसे कामों को शिक्षाक्रम से बाहर कर दिया जाता है। अभिभावकों का ज्यादा से ज्यादा जोर गणित, विज्ञान जैसे वस्तुनिष्ठ किस्म के विषयों को पढ़ाए जाने पर रहने लगता है। उनमें समझकर सीखने-सीखाने की गुंजाइश न के बराबर रह जाती है क्योंकि ध्येय समझकर सीखना नहीं बल्कि परीक्षा में सफलता हासिल करना हो जाता है।

इसका तीसरा असर यह होता है कि शिक्षक की स्वायत्तता छिनने लगती है। केन्द्रीय स्तर पर यह तय किया जाने लगता है कि किस माह में किस विषय के कौन-कौनसे पाठ पूरे हो जाने चाहिए। शिक्षक को पूरी कक्षा को लगभग एक साथ एक जैसी चीज पढ़ानी पड़ती हैं। उसके पास छात्रों की सीखने की विविधता के हिसाब से अपनी कक्षा शिक्षण की योजना खुद बनाने की गुंजाइश कम से कम होने लगती है। छात्रों की विविधता के हिसाब से अपनी शिक्षण पद्धति को रचनात्मक बनाने की गुंजाइश न के बराबर हो जाती है।

इस सबका असर यह होता है कि समाज में एकरूपता हावी होने लगती है। विविधता मिटने लगती है। मूल्यों का पतन होने लगता है। समाज सफल और असफल लोगों में विभाजित हो जाता है। इसकी पूरी सम्भावना है कि ऐसे समाज में लोगों में विचार करने, कल्पना करने, अपने तर्क देने और विश्लेषण कर खुद अपने नतीजे निकालने जैसी क्षमताओं का विकास ठीक से न हो। एक लोकतांत्रिक समाज के लिए ऐसी स्थिति घातक हो सकती है। क्योंकि लोगों के ऐसे समूह को आसानी से तथ्यों को सही और गलत की कोटि में बांटकर पक्ष या विपक्ष में विभाजित किया जाना आसान हो जाता है। समाज में तीसरी, चौथी या पांचवी आवाज के लिए कोई जगह नहीं बचती। यह विविधता और लोकतंत्र दोनों के लिए खतरे की घण्टी होती है। समाज ध्रुवीकृत होने लगता है।

अब बतौर समाज यह हमें तय करना है कि हम लोकतंत्र चुनते हैं या ध्रुवीकृत होकर तानाशाही की ओर बढ़ता हुआ समाज चाहते हैं। ♦

प्रमोद

संदर्भ

1. सफलता में विविधता के लिए आकलन, प्रो. कृष्ण कुमार से विश्वंभर की बातचीत, शिक्षा विमर्श, मई-जून 2015, शैक्षिक मूल्यांक विशेषांक, http://www.digantar.org/uploads/shiksha-vimarsh/articles/2015_05_02.pdf